वैदिक एवं आगमिक परम्परा में गुरुतत्त्व:स्वरूप व प्रयोजन

:□ॉ.प्रियव्रत शुक्ल

भारतीय मूल की प्राचीन दार्शनिक अभिव्यक्तियों में तत्त्व-जिज्ञासा स□सम्बद्ध शाश्वत सम्वाद क□साथ-साथ तत्त्वबोधार्थ व्यावहारिक या साधनपरक दिशाएँ भी संक□तित हैं।ऐसी प्रवृत्ति वैदिक एवं आगमिक दोनों ही धाराओं क□ चिंतकों, साधकों और अंततः अनुवर्ती परम्पराओं में उपलब्ध होती है। दक्षाकालगत आधुनिकता क□पश्चिमी प्रभाव क□साथ भारतीय समाज की वरीयताओं एवं वैयक्तिक रुझानों में कुछ धनात्मक एवं कुछ ऋणात्मक अंतर स्पष्ट दिखलाई दक्ष□लग□थ□इस क्रम में भारतीय मूल क□गम्भीर दार्शनिकों क□मानस पर पड़ा प्रभाव अनक्ष आयामों में परिलक्षित होता है: एक ओर श्री अरविन्द, सर जॉन वु□रफ आदि अनक्ष साधक प्रकृति क□दार्शनिकों का वर्ग था जो हमारी पारम्परिक आर्ष अनुभूति एवं चिंतन की शास्त्रगत धरोहर क□प्रति पूर्ण निष्ठा रखत□हुए भी परिवर्तित परिवक्षा एवं सामयिक प्रभावों क□ परिप्रक्ष्य में उस□पुनः नए ढंग स□और नई पदावली में समझन□का आग्रह करता था, चाह□इसक□ लिए उन दार्शनिकों को नवीन अर्थों की द्योतक नूतन तत्त्वमीमांसीय संरचना ही क्यों न विकसित करनी पड़ी; दूसर□वर्ग में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि सदृश व□चिंतक आत□हैं जो वैश्विक स्तर पर प्रभावी नई वैज्ञानिक खोजों एवं आधुनिकता क□ प्रभाव स□उद्भूत वैचारिक जागृति और 'आ नो भद्रो क्रतवो यंतु विश्वतः' एवं 'वसुधैव कुटम्बम्' की पृष्ठभूमि में तुलनात्मक विधि स□दार्शनिक विवक्षन में संलग्न हो रह□थ□अंततः उसी अवधि में एक ऐसा ऐकांतिक वर्ग भी था जिसक□ अंतर्गत रामकृष्ण परमहंस आदि कुछ शुद्ध एवं समर्पित संत प्रकृति क□व्यक्ति थ□जो सनातन रूप स□चली आ रही सत्शिष्य परम्परा, चाह□वह वैदिक मूल की हो अथवा आगमिक धारा की पोषक हो, क□अनुयायी क□रूप में स्वयं स्वरूपबोध एवं तत्त्वबोध कर एवं करा रह□ थ□वस्तुतः वैदिक एवं आगमिक दोनों ही आर्ष धाराओं स□ निष्पन्न समकालिक दर्शन क□ विकासक्रम में उक्त प्रकार क□ त्रिआयामी मानवीय प्रयास स्पष्ट प्रतिबिम्बित होत□रह□हैं। वैदिक एवं आगमिक दोनों ही अपौरुषक्ष मूल स□उत्पन्न एवं साक्षात् अनुभूतियों स□पुष्ट दार्शनिक धाराएँ मानवीय चक्षना क□ कतिपय ऊर्ध्वमुखी रहस्यात्मक आनुभूतिक स्तरों एवं अवस्थाओं का उल्लक्ष्य करती हैं।वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि चक्षना क□ ऊर्ध्वमुखी स्तरों स□सम्बद्ध आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित ज्ञान एक ओर तो परम्परया शास्त्रगत होता जाता है किंतु दूसरी ओर युगांतरों में भी किसी न किसी अनुग्रहप्राप्त उत्कृष्ट आत्मा(संत, सद्गुरु आदि) क□ द्वारा जीवंत रूप में 'जिया' जाता रहता है।इस प्रकार प्रत्यक्ष युग में परम्परांतर्गत उच्चतर अनुभूतियों का शास्त्रगत वर्णन एवं उस अनुभूति-वृत्त को जीवंत रूप में जीन□वाल□एवं व्यावहारिक स्तर पर सम्पुष्ट करन□वाल□दैवी अनुग्रह एवं प्रतिभा स□सम्पन्न महात्मा स्वरूप सद्गुरु उपलब्ध रहत□हैं।यह एक सनातन परम्परा कही जा सकती है। संतों द्वारा अनुभूत एवं वैदिक ऋषियों व आगमिक सिद्धों द्वारा दृष्ट यह रहस्यमय ज्ञान कल्प-कल्पांतरों स□चला आया अनादि परम्परा का द्योतक है। "अशरीरी 'सबद' ही शरीरी होता

है लोकमंगल क लिए, और वही दव सदाशिव श्रीसद्गुरु स्वयं गुरु-शिष्य-भावापन्न होकर इस परम्परा को चलाता रहता है।---श्रीसद्गुरु शरीरधारी 'सबद' हैं---शक्तिसमवव परा सत्ता अशरीरी 'सबद' है।"[1] वैदिक एवं आगमिक दोनों ही परम्परायें जगत में सद्गुरु-तत्त्व की नित्य उपस्थिति किंतु जीव विशष को उनकी उपलब्धि हो पाना दुर्लभ स्वीकार करती हैं ।विवकानन्द [2] एवं कविराज [3] दोनों ही सद्गुरु परम्परा को अखण एवं नित्य रूप में स्वीकार करत हैं।।अतः इस सत्शिष्यपरम्परा अथवा सद्गुरु परम्परा को सनातन मानना समीचीन प्रतीत होता है।साम्प्रदायिक सन्दर्भों व वर्गीकरण को पृथक् रखत हुए, इस परम्परा स सन्युक्त आत्मज्ञानी महात्माओं क दो प्रकार दव गए हैं : 'तरन' एवं 'तारन'। जैसा कि शब्द स ही ध्वनित होता है, प्रथम का लक्ष्य स्वानुभूति में दिव्यत्व या सत्य का साक्षात्कार करना मात्र है एवं द्वितीय की प्रयोजनीयता प्रथम की स्थिति प्राप्त कर लव क उपरांत जीवनमुक्त क रूप में समष्टि क हितार्थ सद्गुरु स्वरूप बनाए रखन में निहित है। वैदिक एवं आगमिक दोनों ही परम्पराओं में उक्त अभवोन्मुखी स्थितियों क प्रति साधक की गति क लिए अनक साधनों या उपायों की व्यवस्था भी दी गई है।इसी परिप्रक्ष्य में शास्त्रों में गुरुतत्त्व की प्रासंगिकता निरूपित की गई है तथा इसपर विशद् विवचन उपलब्ध होता है। समकालीन परिदृश्य में वैदिक परम्परा स आगत वदांत दर्शन क आधुनिक व्याख्याता, दार्शनिक व साधक विवकानन्द एवं आगमिक धारा क प्रतिनिधि दार्शनिक, व्याख्याता व साधक क रूप में म.म.गोपीनाथ कविराज प्रतिष्ठित मान जात हैं।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि यदि इन दोनों सद्गुरु एवं सत्शिष्य परम्परा क परस्पर भिन्न वैचारिक मूलों क अनुयायी व साधक प्रकृति क दार्शनिकों क गुरुतत्त्व विषयक विवचनों का अध्ययन कर लिया जाए तो विषय का यथष्ट एवं समालोचनात्मक मन्थन सम्भव है। फलतः, इस आलख में, विस्तारभय स संत परम्परा में सद्गुरु तत्त्व क वर्णन को अन्य लख हेतु सम्प्रति स्थगित रखत हुए, मुझ वैदिक एवं आगमिक परम्परा क उक्त प्रकृष्ट समकालीन सम्वाहकों क अभिमतों का यही तुलनात्मक आलोड़न अभीष्ट प्रतीत होता है।

वैदिक एवं आगमिक आर्ष परम्पराओं क सतर्क अनुयायी-द्वय, क्रमशः विवकानन्द एवं गोपीनाथ कविराज, अपन अपन व्याख्यानों/रचनाओं में सर्वप्रथम इस आधुनिकताजन्य संशयात्मक प्रवृत्ति को पूर्वपक्ष बनाकर विचार प्रारम्भ करत हैं कि गुरु नामधारी तत्त्व की आवश्यकता है भी कि नहीं; या यह आशंका कि इसकी आवश्यकता की संगति हमारी स्वाधीनता एवं आत्म-निर्भरता क सम्प्रत्यय क साथ कैस बैठ सकगी। विवकानन्द क विचार में तो गुरु क साथ हमारा सम्बन्ध धर्म की दृष्टि स पूर्वज या वंशज सदृश होता है। "स्वाधीनता और स्वतंत्रता की बातें चाह जितनी अच्छी लगें पर विनय, नम्रता,भक्ति, श्रद्धा और विश्वास क बिना कोई धर्म नहीं रह सकता। ---जहाँ गुरु और शिष्य में ऐस सम्बन्ध का अस्तित्व अब भी है, वहीं महान आध्यात्मिक आत्माओं का विकास होता है, पर जहाँ उस बहिष्कृत कर दिया गया है, वहाँ धर्म कवल एक दिल-बहलाव की वस्तु बन जाता है।---वहाँ न तो दव वाला --- संचार करन वाला ही है और न ग्रहण करन वाला; क्योंकि व सब स्वाधीन हैं । व सीखेंग किसस ---धर्म की प्राप्ति इस प्रकार नहीं हो सकती।" [5] विवकानन्द न स्पष्ट रूप स घोषित

किया है कि *धर्म हीन मानवरूप धारी पशु एवं परमहंसावस्था को उपलब्ध व्यक्तियों को दो वर्गों को अतिरिक्त मानवमात्र को लिए मनुष्य को रूप में ईश्वर की उपासना करने को अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।* स्वामी जी श्रेष्ठ मानवस्वभाव व गुणों को अतिशय को रूप में ईश्वर को सगुण स्वरूप को परिकल्पित करने की सहज मानवीय प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं। अन्य प्रसंग में व्यक्त इस अभिकथन को भी मनुष्यदेहधारी सद्गुरु को पक्ष में एक तर्क माना जा सकता है : "यदि मछली ईश्वर की पूजा करना चाहे तो वह ईश्वर को एक बड़ी मछली को आकार का ही समझेगी।---जब मनुष्य ईश्वर को देखता है तो वह उसे मनुष्य को रूप में ही देखता है।परमेश्वर को तुम केवल इसी तरह देख सकते हो। मनुष्य को ही रूप में उसकी उपासना कर सकते हो ; क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।"[6] विवेकानन्द इसे उपासना की सर्वोत्तम विधा निरूपित करते हैं कि किसी ऐसे मानव की पूजा की जाए जिसने मानव में ब्रह्म को होने का विचार स्वयं में प्रतिष्ठित कर लिया है और ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है।स्वामी जी इसे 'सबसे कम खतरनाक' पद्धति मानते हैं।[७] इस कथन का कारण इस तथ्य में निहित प्रतीत होता है कि बिना दिशा-निर्देशक एवं अनुग्रहकारी गुरु को साधना एवं योगपरक मनमुखी प्रयासों में पथभ्रष्ट या मार्गच्युत होने की सम्भावना बलवती होती है। साधना को प्राथमिक स्तर पर तो गुरु को एक अपरिहार्य तत्त्व निरूपित किया गया है। स्वामी जी उद्घोषणा करते हैं : "तुम दुनिया को चारों कोनों में---जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।---गुरु को ईश्वर की सर्व श्रेष्ठ अभिव्यक्ति समझ कर उनमें हमें अपना ध्यान केन्द्रीभूत कर देना चाहिए, और ज्यों-ज्यों उनमें हमारी यह ध्यानशक्ति एकाग्र होगी, त्यों-त्यों गुरु को मानव रूप का चित्र विलीन हो जाएगा, मानव शरीर का लोप हो जाएगा और यथार्थ ईश्वर ही वहाँ शेष रह जाएगा।"[8] गुरु की आवश्यकता को लेकर समुपस्थित संशयात्मक दृष्टि को प्रसंग में कविराज का स्पष्ट अभिमत भी श्रद्धावान मानव की साधना एवं विकासोन्मुखी या ऊर्ध्वमुखी चैतसिक यात्रा को प्राथमिक स्तर पर सद्गुरु तत्त्व की अपरिहार्य प्रयोजनीयता को प्रतिपादित करता है: "अध्यात्म-क्षेत्र में गुरु की आवश्यकता है अथवा नहीं, इस विषय में आलोचना करने को पूर्व साधारणतः विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवनपथ पर पहले पहल ऐसी एक अवस्था विद्यमान रहती है, जब जीव को शक्ति, ज्ञान, भाव आदि सभी विषयों में परमुखापेक्षी रहने को बाध्य होना पड़ता है। ऐसा ही प्रकृति का नियम है। तदनंतर, भीतरी शक्ति और बुद्धिवृत्ति को विकास को साथ बाहरी सहायता उतनी अपेक्षित नहीं रहती। बाहरी सहायता की अपेक्षा न रहने पर भी भीतरी किसी अचिंत्य शक्ति की अधीनता तब भी उसे रहती ही है। उसके बाद जीवन पथ पर पूर्ण और चरम स्थिति प्राप्त होने पर *स्वाधीनता* का विकास होता है एवं अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती।"[9] यहाँ जिस स्वाधीनता की बात कविराज कर रहे हैं वह साधना को उत्तरकाल में उपलब्ध होने वाले 'अहंमात्रविमर्शजन्य स्वातंत्र्य' या माहेश्वर्य-बोध का पर्याय प्रतीत होता है।आगमिक परिप्रेक्ष्य में तो दीक्षापरक तकनीकी एवं रहस्यात्मक दृष्टि से भी गुरु का सान्निध्य एवं कृपा अनिवार्य है।कविराज को मतानुसार, "दीक्षादान के समय गुरु को अपने विशुद्ध ज्ञानशरीर का अंश प्रदान करके शिष्य को

ज्ञानशरीर का निर्माण का मार्ग परिष्कृत करना पड़ता है।बीज खेत में पड़ने पर जिस प्रकार अंकुरित होकर वृक्षरूप में परिणत हो सकता है, उसी प्रकार गुरु के द्वारा प्रदान की हुई काया भी बीजरूप में शिष्यक्षेत्र में पड़कर विकसित हुआ करती है।"[10] कविराज के ही एक समकालीन विचारक जिद्दू कृष्णमूर्ति , जो गुरुवाद के प्रसंग में अपनी अलग राय रखने के लिए प्रसिद्ध थे, मानते थे कि स्वाधीनता प्रारम्भ में ही होती है न कि अंत में।[11]

उक्त दोनों साधक-दार्शनिक गुरु की प्राथमिक स्तर पर आवश्यकता को स्थापित करने के लिए पर्याप्त तर्क देते हैं, किंतु यदि हम आत्म ज्ञान की प्रक्रिया में अनुस्यूत सम्प्रत्ययों का विश्लेषण मात्र करें तो गुरु तत्त्व की अपरिहार्यता स्वतः आपादित होगी।सम्पूर्ण प्रयत्न का लक्ष्यभूत आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो स्वरूपतः उस प्रकार का ज्ञेय विषय नहीं है जो श्रुति श्रवण या बौद्धिक रूप से जाना जा सके।[12] वह तो स्वरूपतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं है।यदि योगादि साधनों का प्रयोग भी करें तो ध्यातव्य क्या होगा; सर्वव्यापी ईश्वर का भी तो कोई स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है।पुनः यदि परम्परया उपलब्ध मंत्रादि का अनुशीलन करते हुए योग-साधना में प्रवृत्त भी हुआ जाय तो उपलब्धि-वैचित्र्य से समृद्ध चेतना के ऊर्ध्वगामी पथ पर परम उद्देश्य से भटकने एवं पूर्ण यात्रा के पूर्व ही रुक जाने की सम्भावना से बचाए रखने वाला भी तो कोई होना चाहिए।ऐसा व्यक्ति तो वह सद्गुरु ही हो सकता है जो साधना के महापथ एवं परम उद्देश्य से सुविध परिचित हो।पुस्तकीय विवरण एवं निर्देशों से तो यहाँ कार्य सिद्ध नहीं होने वाला। कविराज शंकराचार्य के द्वारा 'महापुरुष के आश्रय' की बात का उल्लेख करते हुए इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं : "सद्गुरु के बिना मार्ग का सन्धान कोई नहीं पाता।मार्ग पर चलाकर ले चलने की शक्ति भी किसी में नहीं होती तथा महालक्ष्य का साक्षात् परिचय भी दूसरों को नहीं होता। सद्गुरु वस्तुतः श्रीभगवान हैं। उनकी अनुग्रह शक्ति ही 'गुरुपद' वाच्य है।वे उपेय हैं---और उपाय भी वे ही स्वयं हैं।"[13] अस्तु, एक ही उपाय शेष रहता है कि उस मानवीय अस्तित्व को निष्ठा का विषय बनाया जाय जिसने आत्म तत्त्व/ ईश्वरीय तत्त्व का अनुभव कर लिया है और, फलतः जो शक्ति सम्पन्न होते हुए अनुग्रहपूर्वक शक्ति-समावेश में प्रवृत्त भी है।

विवेकानन्द का अभिमत है कि प्रत्येक मनुष्य तो क्या प्राणिमात्र का अंततः पूर्णता प्राप्त करना सुनिश्चित है किंतु सद्गुरु कृपा रूपी बाह्य साहाय्य से यह कार्य सुकर एवं शीघ्र हो जाता है।इस बाह्य सहायता के सम्प्रत्यय को परिभाषित करने के पूर्व वे स्पष्ट कर देते हैं , "एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही प्रेरणा प्राप्त कर सकती है, किसी अन्य वस्तु से नहीं---आत्मा को स्फुरित करने के लिए ऐसी शक्ति किसी दूसरी आत्मा से ही प्राप्त होनी चाहिए । जिस आत्मा से यह शक्ति मिलती है उसे गुरु या आचार्य कहते हैं---।"[14] स्वामी जी पातंजल-योग के अंतर्गत समाधिपाद के एक सूत्र "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥२६॥" की व्याख्या के प्रसंग में ईश्वर को कालिक सीमा से मुक्त, गुरुओं का भी परम गुरु अथवा एक नित्य तत्त्व स्वरूप मानते हुए गुरु की अपरिहार्यता विषयक इस मान्यता की सम्पुष्टि अन्य प्रकार से करते हैं।तदनुसार, "ज्ञान का उन्मेष एक दूसरे ज्ञान सहारे ही हो सकता है। अचेतन जड़ पदार्थ ज्ञान का विकास कभी नहीं करा सकता—केवल ज्ञान की शक्ति से ही ज्ञान का विकास होता है।हमारे अन्दर जो

ज्ञान है, उसको जगाने के लिए ज्ञानी पुरुषों का हमारे पास रहना सदा आवश्यक है। यही कारण है कि इन गुरुओं की आवश्यकता सदा ही बनी रही है।"[15] स्वामी जी ने बौद्धिक विकास से आत्मिक विकास को असम्भव बतलाया है। एक श्रेष्ठतर, विकसित अथवा पूर्णता के बोध से युक्त आत्मा से शिष्य या साधक की आत्मा में शक्ति का संचार करने का कार्य गुरु का होता है।

जब *शक्ति के संचरण* या *समावेश* का प्रसंग आता है तो विवेकानन्द का एतद्विषयक कथन सम्बद्ध आगमिक सन्दर्भों का स्मरण कराता प्रतीत होता है।विवेकानन्द शक्ति संचरण के लिए दो बातों का महत्व निरूपित करते हैं: "---पहले तो यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से यह शक्ति संचारित हो रही है, उसमें उस शक्ति को अपने पास से दूसरे में सम्प्रेषित कर सकने की क्षमता हो, और दूसरी आवश्यकता यह है कि जिसको वह शक्ति सम्प्रेषित की जाए, उसमें उसको ग्रहण करने की क्षमता हो।"[16] अर्थात् गुरु की योग्यता एवं शिष्य की पात्रता दोनों को आवश्यक निरूपित किया गया है। यहाँ शिष्य में ग्रहण करने की क्षमता से तात्पर्य शक्तिवान होने से नहीं है अपितु आशय यह है कि उसमें यथार्थ जिज्ञासा एवं पिपासा का अतिरेक अपेक्षित है।शिष्यत्व के लक्षणों में विवेकानन्द आगे पवित्रता एवं धैर्य को भी सम्मिलित करते हैं ।विवेकानन्द ने शिष्य की पात्रता के प्रसंग में गुरु से अधिक महत्वपूर्ण अवतार पुरुष को माना है क्योंकि गुरु सुपात्र में तो शक्ति समावेश कर उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है किंतु वह उसे सुपात्र नहीं बना सकता; दूसरी ओर, अवतार अयोग्य को भी सुपात्र बनाने की क्षमता रखता है।[17] सद्गुरु अपने समक्ष समर्पित सत्शिष्य को संचित कर्मों के भार से भी मुक्त करता है।विवेकानन्द कहते हैं, "अध्यात्म गुरु का कार्य बड़ा कठिन है। दूसरों के पापों को अपने ऊपर लेना पड़ता है।"[18] संत पलटूदास तो इससे भी आगे जाते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि संत सद्गुरु तो प्रारब्ध को भी बदल सकते हैं , "पलटू लिखा नसीब का, संत देते हैं फेर। साँच नहीं दिल आपना, तासे लागे देर॥"

विवेकानन्द गुरु की पहचान में सहायक कुछ अपेक्षित लक्षणों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि एक सच्चे गुरु के लिए शास्त्रों का मर्मज्ञ होना आवश्यक है। यहाँ 'शास्त्र' एवं उसके 'मर्म' इन दोनों ही अवधारणाओं का विश्लेषण अपेक्षित है क्योंकि इन दोनों ही तत्त्वों पर आगमिक परम्परा में भी पर्याप्त विचार उपलब्ध होता है।गुरु के शास्त्रों के मर्मज्ञ होने से विवेकानन्द का तात्पर्य यह नहीं है कि वह शब्दों के अनेक अर्थ करने एवं प्रतिपादन में समर्थ हो, भाषा-विज्ञान का ज्ञाता हो अथवा वेद,कुरानादि धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन में लगा रहता हो।धर्म से पुस्तकीय ज्ञान का कोई अनिवार्य सम्बन्ध स्वामी जी को स्वीकार्य ही नहीं है: "धार्मिक होने के लिए सर्वप्रथम तुम्हें पुस्तकें फेंक देनी होंगी।पुस्तकें जितनी कम पढ़ो, उतनी ही तुम्हारी भलाई है।---तुम इस बात को ध्यान में रखो कि धर्म न बातों में है, न ही सिद्धांतों में और न पुस्तकों में, वह है प्रत्यक्ष अनुभव में। वह 'सीखना' नहीं है, 'होना' है।"[19] ***विवेक चूड़ामणि*** को उद्धृत करते हुए विवेकानन्द स्पष्ट करते हैं कि अनेक प्रकार के शब्दयोजनागत व शैलीगत ज्ञान पर आधारित शास्त्रों की विविधार्थ विवेचन की योग्यता तो विद्वानों के विलास की वस्तुएँ हैं, जिनका मुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है: "*वाग्वैखरी शब्दझरी*

शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।वैदुष्यं *विदुषां तद्वत् भुक्तयेन तु मुक्तये॥५॥*" शास्त्र का तात्पर्य वह ज्ञान है जिसका साक्षात् अभिप्राय मुक्ति या पूर्णता-लाभ हो।अतः शास्त्र-मर्मज्ञता का सीधा-सीधा सम्बन्ध मुक्ति अथवा पूर्णता की निज-स्थिति एवं अन्य में एतद्विषयक प्रबोध जगाने की योग्यता माना जाएगा। यह बात और है कि कहीं-कहीं व्यक्ति विशेष में भाषा-विज्ञान, भाष्य-विज्ञान एवं व्युत्पत्ति-निष्पादन में कौशल के साथ-साथ साधना-प्रसूत आध्यात्मिकता का भी संयोग हो जाता है, यथा श्री अरविन्द एवं अभिनवगुप्त में ।स्वामी जी अपने गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस का सन्दर्भ देते हुए स्पष्ट करते हैं कि एक ही शब्द पर अनेक पोथियों की व्याख्या लिखने वाले पेड़ के पत्ते गिनने वालों के सदृश हैं जिनका यथार्थ ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं होता; अपितु,आम खाने अर्थात् यथार्थ एवं सार्थक अनुभूति की व्यावहारिक विधा के ज्ञान एवं संसाधन या साधना-प्रविधि से शिष्य को भलीभाँति परिचित करवाने वाला गुरु ही शास्त्रों का मर्मज्ञ कहा जाएगा। ऐसे गुरु का वचन मात्र ही यथार्थ शास्त्र होता है। उपनिषद् के ऋषि का कथन है, "तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्। मूल मंत्रं विजानाति यो विद्वान् गुरुदर्शितम्॥" [20] अर्थात् जिसने गुरु द्वारा बतलाए गए परामंत्र को जान लिया उसने वस्तुतः सभी विद्याएँ जान लीं तथा सभी अनुष्ठान सम्पन्न कर लिए। यहाँ एक और बात स्पष्ट करनी समीचीन प्रतीत होती है कि शिष्य की प्रज्ञा का महत्व कहीं भी कमतर नहीं आँका गया है, अपितु वह तो मूल आवश्यकता है; गुरु-प्रदत्त मंत्रादि के प्रति बोध या स्वपरामर्श के उद्भव का कारण तो शिष्य में अवस्थित प्रज्ञा ही है।[21] ***तेजबिन्दूपनिषद्*** का एक अभिकथन शास्त्रगत विवेचन एवं आनुभूतिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में गुरु की भूमिका को स्पष्ट करता है, "सर्ववाचोऽवधिर्ब्रह्म सर्वचिंतावधिर्गुरुः।"(५ /१) अर्थात् संसार में वेद, उपनिषद् एवं भाष्यादि समस्त वांग्मय का अंतिम प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, वही वाणी का श्रेष्ठतम् प्रयोजन है; इसी प्रकार, ध्यान, स्मरण, मनन, निदिध्यासन आदि समस्त मानसिक प्रयोगों की सीमा गुरु में ही पर्यवसित होती है।[22]

पुनः, विवेकानन्द ने गुरु का चारित्रिक दृष्टि से श्रेष्ठ होना या निष्पाप होना मौलिक रूप से आवश्यक बतलाया है।आध्यात्मिकता का उपदेश करने वाले अर्थात् सद्गुरु में पवित्रता का होना अनिवार्य अनुबन्ध है; पहले हमें यह देखना चाहिए कि वे(गुरु) '*क्या हैं*', और तदुपरांत यह कि वे '*क्या कहते हैं*'।" [23] यहीं पर संत-सद्गुरु एवं निरे भाषा-वैज्ञानिक शास्त्राचार्य के मध्य अंतर और भी स्पष्ट हो जाता है; प्रथम में अपेक्षित उक्त स्वरूपगत आवश्यकता से विपरीत द्वितीय में मात्र यह देखना प्राथमिक रूप से आवश्यक होता है कि वे 'क्या कहते हैं', न कि यह कि 'वे क्या हैं'।यदि आचार्य का प्रतिपादन या कथन तर्कपूर्ण एवं सुसंगत प्रतीत होता है तो श्रोता की संतुष्टि इतने मात्र से हो जाएगी एवं उसका वैयक्तिक जीवन तथा उसकी चर्या गौण हो सकती है।किंतु सद्गुरु के प्रसंग में ऐसा नहीं है।

शक्तिपात विषयक आगमिक मान्यता के ही सदृश विवेकानन्द के अभिमत में भी गुरु के द्वारा यथार्थ शक्ति-समावेश का उल्लेख मिलता है। गुरु की भूमिका मात्र सम्प्रेषक या अभिप्रेषक की नहीं है; अपितु उसे स्वामी जी ने भी यथार्थ शक्ति का संचरण-कर्ता स्वीकार किया है: "यदि स्वयं गुरु में वह आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वह शिष्य में किसका संचार करेगा? जैसे यदि

गर्मी पहुँचाने वाला पदार्थ स्वयं गर्म हो तभी वह गर्मी के स्पन्दन सम्प्रेषित कर सकेगा, अन्यथा नहीं। ठीक यही बात गुरु के उन मानस स्पन्दनों के संबन्ध में सत्य है, जिन्हें वह शिष्य में संचरित करता है। प्रश्न सम्वाहन का है, केवल हमारी बौद्धिक क्षमताओं को उत्तेजित करने की बात नहीं है। कोई यथार्थ तथा प्रत्यक्ष शक्ति गुरु से निकल कर जाती है और शिष्य के हृदय में पल्लवित होने लगती है।"[24] सद्गुरु चेतना के स्तर पर प्रभाव डालता है, विद्वान आचार्य के रूप में उपलब्ध होने वाले गुरु हमें बौद्धिक स्तर पर ही उद्वेलित या प्रभावित कर पाते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि म.म.गोपीनाथ कविराज शास्त्रों के अर्थबोध में प्रतिभा को प्रधान कारण मानते हैं। पुनः, यह भी यथार्थ है कि शास्त्र के अंतरंग सत्य के बोध के लिए अपेक्षित आध्यात्मिक दृष्टि की उपलब्धि, जिसे हम प्रतिभा के रूप में भी समझ सकते हैं, गुरु अथवा दैव कृपा से ही सम्भव बतलाई गई है: "जो सद्गुरु के आदेशानुसार यथार्थ योग मार्ग में प्रविष्ट नहीं हैं, उनके लिए शास्त्रोपदेश का गूढ तात्पर्य समझना अत्यंत दुरूह है।...सारे शास्त्रों के *बहिरंग* उपदेश देश काल आदि की विचित्रता के कारण विभिन्न प्रकार के होते हैं, परंतु *अंतरंग* उपदेश एक और अभिन्न है।....स्थलविशेष में व्याख्याकर्ता की व्याख्या प्रणाली के साथ साधक विशेष का किसी अंश में मतभेद हो सकता है, किंतु *किसी भी शास्त्र का यथार्थ मर्म समझने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि* आवश्यक है और योगी के सिवा अन्यत्र वह दृष्टि सुलभ नहीं है।"[25] भारतीय चिंतन में शास्त्रों के अर्थ निरूपण के प्रयास में आध्यात्मिक दृष्टि के समावेश का यह स्पष्ट संकेत एक अत्यंत महत्वपूर्ण दिशा-सूचक अभिकथन माना जाने योग्य है।

धर्म के सनातन आदर्श के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए प्रश्नोत्तर के रूप में कविराज ने एक लेख लिखा है जहाँ वे *'यथार्थ प्रश्न'* के निर्धारण की दिशा में गहन विवेचन करते हैं। वस्तुतः यह विवेचन मानव अभीप्सा का भी निश्चयन व उन रूक्ष दार्शनिक तार्किक विवादों का व्यावर्तन करता है जिनका चिद्गत उन्नयन या आत्मोत्कर्ष से कुछ लेना देना नहीं होता:यथार्थ प्रश्न में चिद्गत सन्दर्भ व प्रयोजनीयता अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में तो यह भी कहा जा सकता है कि यथार्थ प्रश्न अनुभूति से ही सम्बद्ध तथा एतद्विषयक होने चाहिए। ये वस्तुतः विकासक्रम में उद्भूत आत्मगत द्वन्द्व के परिचायक कहे जा सकते हैं।यथार्थ व अयथार्थ प्रश्नों के स्वरूप एवं दिशा को परिभाषित करते हुए कविराज कहते हैं, "बहुत से शास्त्रों को पढ़कर अथवा सुनकर उनका समन्वय न कर सकने के कारण जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं वे यथार्थ प्रश्न नहीं हैं –उनका प्राणों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता'।...'जीवन के कठोर और अनंत पथ पर चलते चलते जो अभिज्ञता प्राप्त होती है, उसके भलीभाँति संशोधित न होने पर जो एक प्रकार का द्वंद्व उपस्थित होता है, जिसकी निवृत्ति हुए बिना जीवन की गति रुक जाती है–वही यथार्थ प्रश्न है।"[26] 'जीवन की गति रुक जाती है'—का आशय स्पष्ट है कि वे प्रश्न जिनके उत्तर मानव अभीप्सा को संतुष्ट करते हों तथा जीवन की दिशा एवं गति को निर्धारित करते हों। संकेतित 'द्वन्द्व' कोई तार्किक द्वन्द्व न होकर चैतसिक प्रकृति का द्वन्द्व है जो एक चिंतनशील व सम्वेदनशील मानसिकता में गहन उद्विग्नता उत्पन्न करता है।ऐसे यथार्थ प्रश्नों का मानस में

उठना एवं उनका समाधान का उपलब्ध होना, या दोनों ही घटनाएँ सद्गुरु कृपा या दैवी अनुग्रह की अपेक्षा रखती हैं।

विवेकानन्द का समक्ष सद्गुरु का सम्बन्ध में शास्त्र की मर्मज्ञता का प्रश्न उपस्थापित था; उसी क्रम में कविराज की दृष्टि सद्गुरु में 'नित्यशास्त्र' या 'यथार्थशास्त्र' का प्रति बोध की अपेक्षा रखती प्रतीत होती है। '*यथार्थ शास्त्र*' किसे समझा जाए? कविराज स्वयं किस तात्त्विक प्रकृति का शास्त्र का अध्येता थे वे स्वयं इस तथ्य को आगमसम्मत वाग् रहस्य का सन्दर्भ में उद्घाटित करते हैं, "तुमलोग जिसे शास्त्र कहते हो वह *यथार्थ शास्त्र* नहीं है –वह *यथार्थ शास्त्र* का केवल बाह्य परिछिन्न प्रकाश है---अनंत चिदाकाश से जिस बोधरूप वाणी का उद्गम होता है वही शास्त्र है।ऐसी वाणी किसी शरीरधारी दिव्यमूर्ति की वाणी हो सकती है; अशरीरी का आकाशवाणी हो सकती है; हृदय से उठी हुई भाववाणी हो सकती है; अथवा गुरु स्थान से निकली हुई आज्ञास्वरूप ज्ञानरूप दिव्य वाणी हो सकती है। कोई भी वाणी हो, वह मूलतः एक प्रज्ञास्वरूपा वाणी ही है, दूसरी नहीं"।[27] कविराज का मतानुसार ज्ञान को दो प्रकार का बतलाया गया है: बोधरूप एवं शब्दरूप।[28] 'बोधात्मक पर ज्ञान' ही 'वागात्मक अपर ज्ञान' या वैखरीगत शब्द पर आरूढ़ होकर अर्थ प्रकाशन में प्रवृत्त होता है। पुनःकविराज कहते हैं कि बोधभूमि या अतिक्रांत बौद्धिकता को उपलब्ध चेतना ही उस सत्य दृष्टि की जनक होती है जो आर्ष अनुभूति का पूर्ण-यथार्थ को व्यक्त कर सके।[29] उनके अनुसार धर्म का यथार्थ स्वरूप '*नित्यशास्त्र*' द्वारा ही जाना जा सकता है न कि प्रचलित बाह्य शास्त्र से। उनका स्पष्ट अभिमत था कि बाह्य शास्त्रीय ज्ञान यथार्थ शास्त्र ज्ञान नहीं है। किंतु कविराज स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे कि सद्गुरु एवं दृष्टि सम्पन्न ऋषियों की वाणी सदा विश्वसनीय है, "ऋषियों के कथन पर विश्वास करना चाहिए।....शास्त्र और गुरुवाक्य में गलती नहीं होती। योग्य और सामर्थ्यवान के द्वारा सब सम्भव है।ऋषिओं का कोई वाक्य असत्य नहीं है।"[30]

अद्वैत वेदांत के विपरीत, अथवा एक दृष्टि से पूरक रूप में, आगमिक परम्परा की एक आधारभूत मान्यता है कि चेतना अपने समूल समस्त सम्भव आयामों,स्तरों एवं स्थितियों में स्वाभाविक रूप से या स्वरूपतः ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक दोनों है। इसी क्रम में महत्वपूर्ण आपादित तथ्य यह है कि साधना भी ज्ञानात्मिका एवं क्रियात्मिका दोनों है।[31] परम्परा विशेष की तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में कहा जाए तो वस्तुतः स्थिति यह है कि साध्य, साधना एवं साधक तीनों ही सम्विद् मात्र में अभिव्यक्ति भेद से समाविष्ट हैं।अतः इन तीनों में ही चेतना के ज्ञानात्मक व क्रियात्मक स्वभाव या चिद्-लक्षणों का समानाधिकरण्य माना जाएगा। आगमिक परम्परा में दैवी अनुग्रह के अतिरिक्त दीक्षा एवं गुरु की भूमिका साधना के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत महत्वपूर्ण है। वस्तुतः मानव की साधना विशेष में प्रवृत्ति एवं प्रवेश, उसे गुरु, दीक्षा तथा अनुवर्ती सिद्धि की उपलब्धि अनुग्रहकारी शिव की स्वाभाविक अथवा तादात्म्यभूत शक्ति से ही सम्भव होते हैं। दृष्टिविशेष से अनुग्रह भाव गुरुतत्त्व का भी मूल कहा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परम उपकारी यह अनुग्रह शिव के स्वाभाविक पंचकृत्यों में से एक माना गया है।इसे प्रसंगविशेष में शक्तिपात भी कह सकते हैं।यही भुक्ति एवं मुक्ति(आगम समग्र मोक्ष

को परम उद्देश्य निरूपित करते हैं जो मुक्ति एवं भुक्ति के आदर्श को पूर्णत्व की अवधारणा में समाविष्ट मानकर सिद्ध होता है) के निमित्त सद् गुरु के समीप ले जाने के लिए जीव के मन में प्यास जगाता है।[32] आगमाभिमत में गुरु तथा दीक्षा दोनों का महत्व है तथा क्रमशः ये दोनों ही तत्त्व तथा प्रकिया जीव की साधना में अनुस्यूत हैं। चिति या सम्विद् के आत्मविमर्शनजन्य स्वातंत्र्य से फलित शिव के आत्मगोपन में ही सृष्टि और जीवत्व की सम्भावना बनती है। इसकी व्याख्या लीला या क्रीड़ा भाव के रूप में भी की जाती है।

शिवसूत्र जो एक आगम के रूप में प्रतिष्ठित है, जीव की प्रत्यभिज्ञा एवं सभी मलों से मोक्ष प्राप्त कर पूर्णत्व की उपलब्धि के परम उपाय के रूप में गुरु की महती भूमिका प्रतिपादित करता है।[33] वस्तुतः आणवोपाय,शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय तथा अनुपाय तो तकनीकी दृष्टि से पूर्णत्वलाभ के उपाय बतलाए ही गए हैं किंतु गुरु एक ऐसा आधारभूत एवं सभी उपायों में अंतर्व्याप्त तत्त्व है जो सभी स्तरों पर विभिन्न भूमिकाओं में सम्प्रेरक होता है। पुनः गुरु में भी जो व्याप्त है वह है अनुग्रह। तांत्रिक मतानुसार तो साधना की दृष्टि से गुरु,शास्त्र एवं स्वयम् इन तीनों का महत्व है।[34] अर्थात् शास्त्रसम्मत मंत्र एवं सिद्धांत का गुरु दीक्षा एवं अनुग्रह के आधार पर दैवी प्रेरणाजन्य स्व-प्रयास से मानव मात्र को साधनापरक फल उपलब्ध होता है जो कालांतर में उसकी पूर्णत्वकारक मुक्ति का कारण बनता है। वस्तुतः जिस भी किसी आध्यात्मिक पुरुष से दीक्षा,मंत्र शास्त्र एवं तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो उसे ही सद्गुरु कहा जाना चाहिए।[35] आगमों में शिव और गुरु को तत्त्वतः अभिन्न माना जाता है: "यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः। उभयोरंतरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च॥"[36] अतः कहा जा सकता है कि चिति के उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित शिवतत्त्व ही परम गुरु भी है।गुरु ही दीक्षा प्रदाता होता है।आगमिक परम्परा में दीक्षा एक अति विशिष्ट सिद्धांत है जो रहस्यात्मक भी है।मूलतः दीक्षा का प्रयोजन ज्ञान की उपलब्धि करवाना(दीयते) तथा बन्धन या पाश की भावना को नष्ट करने(क्षय) में निहित है।[37] दिव्य भाव से संयुक्त सद्गुरु स्वतः दीक्षा एवं शक्तिपात की तीव्रता या शिष्य विशेष की दृष्टि से उपयुक्तता निर्धारित करता है। इसके अनेक प्रकार बतलाए गए हैं।निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दीक्षा में शक्तिसमावेश भी होता है।गुरु अपनी गहनतर शक्ति का समावेश शिष्य की चेतना में करता है।शिष्य के चित्त को शक्तिसमावेश का आधार बना कर गुरु उसे चिति के आधारभूत बोध तक पहुँचाता है।मानवभाव में गुरु तरन पहले होता है तथा,तब ही तारन भी बन पाता है।स्पष्ट है कि मनुष्य के रूप में अर्जित गुरुभाव में उसका जीवनमुक्त होना एक प्राथमिक अपेक्षा है। म.म.गोपीनाथ कविराज लिखते हैं: "अतएव, सद् गुरु का मतलब साक्षात् परमेश्वर अथवा उनका अनुग्रहप्राप्त उन्हीं के साधर्म्यापन्न जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुष समझना होगा।यह अधिकारी देवता, सिद्ध और मनुष्य –तीनों ही हो सकते हैं।"[38]

आगम परम्परा में सांसिद्धिक,यौगिक,अकल्पित कल्पक आदि के भेद से गुरु के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। सांसिद्धिक गुरु उसे कहते हैं जिसके सत् तर्क का उदय स्वतः होता है तथा बन्धनों के शिथिल होने के साथ ही उनके शिवभाव का उदय होता है।अपने लिए कुछ

करने के बजाय अनुग्रह मात्र ही उनका प्रयोजन शेष रहता है।अन्य विधा में कहें तो यह तारन मात्र होता है।गुरु के द्वारा अनुग्रह का प्रयोग निश्चित रूप से शिष्य की योग्यता या अधिकार भेद के अनुसार किया जाता है। सांसिद्धिक गुरु चूँकि किसी अन्य आचार्यादि की सहायता के बिना ही सिद्ध होता है अतः उसे प्रकारांतर से अकल्पित गुरु भी कहते हैं।ऐसे सांसिद्धिक गुरु जो स्वयं उत्पन्न ज्ञान की पूर्णता के अभाव में अन्य गुरु की अपेक्षा न करते हुए 'मैं ही परमहंस हूँ" एतद्प्रकारक भावना करते हुए ज्ञान प्राप्त करते हैं वे अकल्पित कल्पक कहलाते हैं।[39] अन्यत्र विवेचन करते हुए कविराज एक विवादास्पद अभिकथन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि सांख्य एवं वेदांत के ज्ञान के लिए तो गुरु दीक्षा की आवश्यकता नहीं है किंतु परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त तो दीक्षा से इतर कोई उपाय नहीं है।[40] कविराज गुरुओं के प्रकार वरिष्ठताक्रम से दिव्यगुरु,सिद्धगुरु तथा मनुष्यगुरु के रूप में बतलाते हैं।सामान्य स्तर का जिज्ञासु या साधक मानवगुरु से ज्ञान प्राप्त करता है,अधिकार सम्पद् प्राप्त साधक को सिद्धगुरु उपलब्ध होते हैं एवं उच्चाधिकार सम्पन्न साधक दिव्यगुरु को प्राप्त करता है। जब सम्पूर्ण सत्ता ही ज्ञान एवं क्रिया से ओतप्रोत है तो गुरु की आवश्यकता ही क्यों पड़ती है,यह प्रश्न भी विचारणीय है। कविराज का कथन है कि सिद्ध योगियों को गुरु की आवश्यकता नहीं होती,उन्हें साक्षात् भगवान ही ज्ञान उपलब्ध करवाते हैं। प्रतीत होता है कि देहात्मभाव के रहते गुरु की महती आवश्यकता होती है। पुनः एक अन्य स्थिति की चर्चा की गई है जिसमें गुरु की अपेक्षा नहीं होती-वह है प्रातिभ ज्ञान के रूप में अनौपदेशिक ज्ञान की उपलब्धि की स्थिति।[41] ऐसा ईश्वरीय शक्तिपात के फलस्वरूप होता है।शक्तिपात या अनुग्रह एवं अधिकारभेद से गुरुओं के अनेक प्रकार गिनाए जा सकते हैं।

पुनः, कविराज ने एक और भी पक्ष विवेचित किया है। गुरु सामान्यतः सद् गुरु ही होता है किंतु यह असद् गुरु भी हो सकता है।असद् गुरु उसे कहते हैं जिसे परमेश्वर विषयक ज्ञान तो होता है किंतु उसका भगवान के साथ तादात्म्य नहीं होता।इन्हें वामा या माया शक्ति के द्वारा अधिष्ठित आचार्य मात्र समझना उपयुक्त माना जा सकता है। असद् गुरु से दीक्षा प्राप्त कर कोई भी साधक, परमधाम तो दूर, माया राज्य को भी पार नहीं कर पाता।

शास्त्रों में बहुधा स्पष्ट किया गया है कि सामान्यतः शैवागम दो प्रकार के बन्धनकारी अज्ञानों, अतः दो ही प्रकार के मुक्तिदायक ज्ञानों की स्थिति मानते हैं-पौरुष एवं बौद्ध।[42] पौरुष अज्ञान पूर्णता एवं स्वातंत्र्य की हानि करने वाला तथा पौरुष ज्ञान इन आवरणों की निवृत्ति करने वाला कहा जाएगा। इसी प्रकार बौद्धिक अज्ञान वस्तुतः विकल्पात्मक एवं अध्यवसायात्मक होता है।उपयुक्त तर्क एवं मननादि से बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति सम्भव है किंतु इस निवृत्ति के उपरांत भी पौरुष अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पाती।एक विद्वान लेखक ने इन दोनों ज्ञानाज्ञान भेदों का विवेचन करते हुए कहा है- आध्यात्मिक दृष्टि से पौरुष ज्ञान योग का साधक है तथा बौद्धिक ज्ञान पाण्डित्य का,पर दोनों का अंतरंग सम्बन्ध भी है।[43] गुरु साधक या शिष्य को ज्ञान देकर उसके पौरुष अज्ञान की निवृत्ति में सहायक होते हैं। देहात्मबोध से संयुक्त जीव के बुद्धिजन्य अज्ञान की निवृत्ति साधनासापेक्ष होती है।

कुण्डलिनी-प्रबोधन एवं षट्चक्रभेदन के कार्य में भी गुरुतत्त्व रूपी शिवानुग्रह की महती ही नहीं अपितु अपरिहार्य भूमिका होती है। ***योगवाशिष्ठ*** के निर्वाण प्रकरण में ऐसे दैशिक या सद्गुरु का उल्लेख मिलता है जो दर्शन,स्पर्श या शब्द मात्र से शिष्य में शाम्भव-समावेश जगा देने वाला होता है।[44] शाम्भव उपाय के सन्दर्भ में ***मालिनीविजय*** तंत्र में भी गुरु की भूमिका स्पष्ट की गई है। शाम्भव-समावेश का कारक गुरु ही होता है: "अकिंचिच्चिंतकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः। जायतेयः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः॥" सद्गुरु को मंत्र की शक्ति का प्रकाशक बतलाया गया है।इससे द्योतित होता है कि न केवल मानवीय चेतना में शिवभाव या शाम्भव-समावेश की बात महत्वपूर्ण है बल्कि यह उससे भी अधिक उल्लेखनीय तथ्य है कि भाषागत या वैखरी रूप में प्राप्त मंत्र भी दैवी अनुग्रह रूप गुरु के साहाय्य से ही शक्ति सम्पन्नता को प्राप्त कर पाता है। आगम परम्परा के ग्रंथ ***मालिनी विजय*** में शिव स्वयं पार्वती से यह कहते हुए बतलाए गए हैं: "स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मंत्रवीर्य प्रकाशकः।" वस्तुतः सम्पूर्ण मातृकाचक्र(जिसके ज्ञान को "---न विद्या मातृकापरा" के रूप में सर्वोत्तम विद्या के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है।) के बोध या प्रकाशन,जो वर्णों के एक विशिष्ट समूह का परिचायक है,में गुरु की महती भूमिका होती है।[45] शक्तिसम्पन्न रूप में मातृका को हम मंत्र का मूल भी कह सकते हैं।

सद्गुरु तत्त्व की उपादेयता की पृष्ठभूमि में आगमिक, वैदिक एवं संतमत तीनों परम्पराओं में प्रतिपादित, कहीं-कहीं कदाचिद् संकेतित, वह रहस्यमयी तत्त्वमीमांसा है जिसके अनुसार मानव देह एक व्यष्टि, या क्षुद्र ब्रह्माण्ड(microcosm) के रूप में समष्टि या बृहत् ब्रह्माण्ड(macrocosm) का प्रतिनिधित्व करता है। आगमिक दर्शन की तीनों मान्यताएँ यहाँ अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक हैं। एक तो यह कि तंत्र यह मानते हैं कि जो अस्तित्वप्रकार एवं चेतना के जैसे व्यवस्थापन पिण्ड या मानवदेह में होते हैं वैसे ही ब्रह्माण्ड के स्तर में भी होते हैं:"यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।पुनः ये शास्त्र यह भी मानते हैं कि सम्विद् या चेतना की समग्र सत्ता एवं इसके सभी आयाम वाक् के विभिन्न स्तरों से तादात्म्य रखते हैं।परा सम्विद् एवं परा वाक् एक ही सत्ता के दो नाम हैं तथा इसी प्रकार वैखरी पर्यंत भाषागत सारी भेद दृष्टि चिद् स्वातंत्र्यजन्य भेदात्मक सृष्टि की समानार्थी है। अब यदि कोई सिद्ध व्यक्ति पिण्डस्थ चिद्गत रहस्यों एवं मंत्र में निहित अर्थवत्ता से अभिज्ञ है तो वह तात्त्विक रूप से वाग्मात्र एवं इसी प्रकार सत्तामात्र से सुपरिचित होगा। ऐसा व्यक्ति ही गुरु होने योग्य कहा जाएगा।पुनः यह भी महत्वपूर्ण है कि आगमों के अनुसार चेतना माहेश्वर्य या स्वातंत्र्य के फलस्वरूप विश्व की रचना अपने ही आधार पर करती है तथा स्वयं ही विभिन्न स्तरों या सोपानों में विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वहन करती है।[46] वही चेतना एक स्थिति में गुरु की भूमिका में होती है तो उसी चेतना की एक स्थिति शिष्य के रूप में बन पड़ती है। कविराज अपने ग्रंथ ***तांत्रिक साधना और सिद्धांत*** (पृष्ठ-५६)में नवचक्र के तंत्र को उद्धृत करते हुए लिखते हैं, "पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्। यो वै सम्यक् विजानाति स गुरुः परिकीर्तितः॥" अभी तक के अपने आगमिक अध्ययन में मैंने जैसा जो कुछ पढ़ा है उसके आधार पर निष्कर्ष रूप में इतना कहा जा सकता है कि चारों वाग् भूमिकाओं अर्थात् वैखरी से लेकर परा पर्यंत; चेतन अस्तित्व की

समस्त अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत,स्वप्न,सुषुप्ति तथा तुरीय व तुरीयातीता में; क्षुद्र ब्रह्माण्ड से लेकर बृहद् ब्रह्माण्ड तक जिस तत्त्व की गति होती है तथा जो शिवानुग्रह का साक्षात् स्वरूप होता है उसे ही गुरु कहा जाताहै।गुरुतत्त्व को शब्दब्रह्मस्वरूप भी माना गया है।यदि परब्रह्म को पाना है तो शब्दब्रह्म का माध्यम एक सशक्त माध्यम माना जाएगा। कहा गया है: "शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।"[47] कविराज के आगमसम्मत मतानुसार, पूर्ण ब्रह्म का परम स्वरूप पशुभावप्रपन्न जीव के लिए अवाङ्मनसगोचर है, अतः वे जीव के प्रति अनुग्रह भाव से गुरु रूप में नीचे उतर आते हैं और उसे अव्यक्त परम धाम में पहुँचा देते हैं ।

हमने गुरु को तत्त्व कहा है। वस्तुतः गुरु एक परा एवं नित्य सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है।कुछ आगम शास्त्र तो इसे न केवल तत्त्व अपितु सर्वोत्तम तत्त्व मानते हैं । ***कुलार्णव तंत्र*** (३/११३) में गुरु तत्त्व को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व या निःश्रेयस के रूप में वर्णित किया गया है:"नास्ति गुर्वधिकं तत्त्वम्।" ***कुलार्णव*** का ही एक बहुप्रचलित श्लोक आगमिक मत में गुरुतत्त्व के केन्द्रीय महत्व को स्पष्ट करता है: "ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्। मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥"(१२/१३) नामरूपात्मक भाषागत भावात्मक जगत एवं अभावात्मक परास्तरीय रहस्यात्मक अस्तित्व के मध्य गुरु ही एक मात्र ऐसा मध्यस्थ तत्त्व है जिसके कारण शब्द के रूप में उपलब्ध मंत्र शक्ति सम्पन्न हो पाते हैं तथा उसकी अनुग्रहकारी दृष्टि मुक्ति की प्रदाता बनती है।

आगमों के समान ही सूफी मत में भी गुरु को अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। पण्डित राममूर्ति त्रिपाठी जो वस्तुतः आगम परम्परा के सुविज्ञ एवं संतमत से साक्षात्-सम्बद्ध आचार्यों में अग्रगण्य हैं, ने इस दिशा में पर्याप्त तुलनात्मक अध्ययन किया है तथा आगमिक मत एवं रहस्यवादी सूफीधारा में अनेक सादृश्यमूलक बिन्दुओं का अनुसन्धान किया है। उनके मतानुसार: "---सूफी भी मानते हैं कि पीर में वह सामर्थ्य है कि वह अपने मुरीद के भीतर आध्यात्मिक शक्ति का प्रवेश करा दे। एतदर्थ सूफी साधना में जो क्रिया होती है-जिसका प्रयोग मुरशिद करता है-'तवज्जह' कहा जाता है। इसमें ध्यान के द्वारा गुरु अपने अंतर से शिष्य के हृदय में आध्यात्मिक शक्ति पहुँचा देता है। इस तवज्जह की क्रिया के कई प्रकार हैं।"[48] त्रिपाठी जी ने आगमिक अनुग्रह,दीक्षा एवं उपाय विषयक सिद्धांतों की समतुल्यता सूफी मत के क्रमशः 'फदल' या 'फज्लेहक़', 'तवज्जह', 'जिक्र' या 'मुराकवा' एवं 'तरीकात' की अवधारणाओं से प्रतिपादित की हैं। उन्होंने आगमसम्मत साधनागत चेतना की ऊर्ध्वमुखी विकास धारा के त्रिकुटी,सहस्रदल कमल,भँवरगुफा आदि अनेक रहस्यात्मक सोपानों की भी तुलना सूफी मत की अनेक अवधारणाओं से की है। संत कबीर की साखियों में, या सर्वथा उपयुक्त व सामान्य रूप में कहें तो संतमत के अपरोक्षानुभूति विषयक वर्णनों एवं प्रतिपादनों में, आगमिक मूल एवं सूफीमत दोनों ही परम्पराओं में वर्णित गुरुतत्त्व की महत्ता एवं रहस्यात्मकता के पर्याप्त संकेत उपलब्ध हो जाते हैं। अतः किसी परम्परा विशेष से जुड़े बिना भी गुरुतत्त्व विषयक सिद्धांत की स्थिति सनातन रूप में प्रतिष्ठित मानी जा सकती है।

उल्लेखनीय है कि कविराज की रहस्यमयी किंतु सहज दृष्टि में, "आपाततः माँ एवं गुरु अभिन्न हैं।" [49] माँ एवं गुरु को समतुल्य एवं सदृश तत्त्व मानते हुए कविराज एक स्थल पर लिखते भी हैं, "अखण्ड भाव से देखने के लिए तृतीय नेत्र रूपी अंतर्दृष्टि का उन्मीलन परमावश्यक है।...आज्ञाचक्र के ऊपर एक ऐसा स्थान है जहाँ से सब कुछ देखा व सुना जा सकता है।सर्व प्रथम ज्योति....तदनंतर मूर्ति गठित होती है।*इस मूर्ति को हम गुरु भी कह सकते हैं, अथवा माँ भी कह सकते हैं।*" [50] माँ के तत्त्व को वे अत्यन्त सहज किंतु रहस्यमय निरूपित करते हैं। उनके शिष्य दादा सीताराम ने भी यत्र तत्र अपने आलेखों में इसी तथ्य को पुष्ट किया है: "अखण्ड महायोग का परम प्राप्तव्य श्री श्री माँ हैं । ये अक्षत कुमारी रूपा हैं।" [51] वस्तुतः कविराज की अखण्ड महायोग की अवधारणा का द्विपाक्षिक विवेचन किया जा सकता है: इसके स्वरूप या प्रस्थिति एवं प्रतिफलन के विवरण की दृष्टि से एवं इस महायोग की उपलब्धि हेतु निर्धारित(प्रायः गोपनीय एवं रहस्यात्मक) प्रक्रिया के वर्णन की दृष्टि से। जहाँ तक प्रक्रिया के निर्धारण का प्रश्न है, कविराज सभी प्रणालियों को अपनी अपनी दृष्टि से सत्य मानने में कोई संकोच नहीं करते। उनका स्पष्ट कथन है कि यदि कोई भी प्रणाली पूर्ण होती तो उस के प्रभाव से अब तक अखण्ड सत्ता का आविर्भाव हो चुका होता,जैसाकि अभी तक नहीं हो सका है। प्रक्रिया के विवरण की दिशा में सूर्य विज्ञान की अवधारणा की अनेकशः पुष्टि, तकनीकी शब्दावलि एवं अनेक रहस्यमय स्थितियों का वर्णन एवं समर्थन अवश्य मिलता है।तद्गत पदों की सामान्य प्रचलित निहितार्थ से प्रायः हटकर की गईं व्याख्याएँ भी उपलब्ध होती हैं।उदाहरण दृष्टव्य है: "अखण्ड महायोग की साधना आसन पर नहीं होती। इसके कर्म का प्रारम्भ माँ के गोद में बैठ कर होताहै। यह माँ की गोद भगवती सुषुम्ना है। *गुरु से इनका सन्धान पाकर* शिष्य को ध्यानकाल में अपना अस्तित्व इन्हीं सुषुम्ना की तरंग में छोड़कर बैठ जाना है।उसे करना कुछ नहीं है।कुछ भी कर्तृत्व किया नहीं कि उस धारा से अलग हुआ। शिशुवत पड़े रहने से वह प्रवाह स्वयं गंतव्य की ओर ले जाता है।न तो ध्यान करना है न जप।बस बैठे रहना ही कर्तव्य है।"[52] यह परम शरणागति एवं सहजता की स्थिति है।

वैदिक एवं आगमिक दोनों ही अपौरुषेय मूलों से उद्भूत अनेक प्राचीन दार्शनिक चिंतन स्रोतों एवं आनुषंगिक परम्पराओं में आध्यात्मिक साधनाओं, धार्मिक विधानों व नैतिक आचारों के परिप्रेक्ष्य में गुरुतत्त्व का महत्वपूर्ण स्थान निरूपित किया गया है।इन सभी सन्दर्भों एवं प्रयोजनों में गुरु(ओं) का स्वरूप भिन्न भी हो सकता है।इस सिद्धांत या तत्त्व की आवश्यकता वस्तुतः तब पड़ती है जब हम किसी तत्त्वमीमांसीय प्रारूप में मानव मात्र के लिए अभीष्ट, अंतर्निहित किंतु सम्प्रति सुषुप्त आध्यात्मिक उत्कर्ष के आयामों की उपस्थिति पूर्व से ही मानकर चलते हैं।यह एक अवगुण्ठित दिव्यत्व की ऐसी स्थिति कही जाएगी जिसे प्राकट्य हेतु गुरु की अपेक्षा होती है। इसको व्यक्तिमात्र के रूप में वर्णित करने के स्थान पर तत्त्व मानना सोद्देश्य एवं समीचीन है। संतमत एवं सूफीमत के सिलसिले में तो गुरुतत्त्व का,कहीं कहीं नामभेद से भी, अत्यधिक महत्व बतलाया गया है। वैखरी की भेदभूमि एवं परा की अभेद भूमि के मध्य रहस्यात्मक सम्वाद की सम्भावना तथा आरोहणावरोहण की सुकरता अथवा

मानवीय चेतना की मानसिक स्तर से आरम्भ कर एक समग्रतापूर्वक ऊर्ध्वमुखी गति की सिद्धि के लिए यह गुरु तत्त्व अपेक्षित है ।ध्यातव्य है कि स्वामी विवेकानन्द एवं म.म.गोपीनाथ कविराज दोनों ही क्रमशः वैदिक एवं आगमिक आर्ष धाराओं के सिद्धपुरुष एवं प्रखर मनीषी के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा दोनों ही सद्गुरु तत्त्व को सनातन रूप में अभिव्यक्त मानते हुए आत्म-ज्ञान की उपलब्धि में आवश्यक निरूपित करते हैं। किंतु निस्सन्देह रूप से तंत्र अथवा आगम से जुड़े शास्त्रों एवं साधकों के वृत्तांत में गुरुतत्त्व के भेद, उसके कर्तृत्व के प्रकार एवं तद्गत सूक्ष्म विश्लेषण, आगमसम्मत तांत्रिक एवं रहस्यात्मक अनुप्रयोगों में उसकी सहभागिता, प्रसंगवशात् सम्बद्ध दीक्षा के सम्प्रत्यय का स्वरूप एवं विभेद आदि का विशद विवेचन उपलब्ध होता है।पुनः विकासक्रम में आगमिक शैव एवं शाक्त धारा में अनेक निकायों का प्रादुर्भाव हुआ। फलतःगुरु तत्त्व एवं दीक्षा के सम्प्रत्यय को लेकर भी अन्यान्य परवर्ती शास्त्रों में अनेक विलक्षण विचारों का प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है। स्वरूपतः विवेकानन्द के दर्शन में ऐसा नहीं है।सम्भवतः ऐसा दो कारणों से है: एक तो यह कि विवेकानन्द द्वारा प्रतिपाद्य वेदांत या व्यावहारिक वेदांत में अन्यान्य निकायगत क्लिष्टता नहीं है एवं गुरुनिष्ठा के विवेचन के साथ वेदांत का साक्षात् अनुभवगत अनुप्रयोग निर्दिष्ट है।यहाँ यह स्वीकार करना उपयुक्त प्रतीत होता है कि गुरुतत्त्व, दीक्षा-प्रविधि एवं प्रकार, प्रभेदसहित शक्तिपात की अवधारणा, चेतना की रहस्यात्मक भूमियों एवं संक्रमणों या चक्रों आदि से सम्बद्ध जितना विशद् विवेचन आगमिक परम्परा, विशेषतः कविराजकृत विवेचनों में सहज उपलब्ध होता है उतना विस्तृत एवं सूक्ष्म विवरण विवेकानन्द के व्याख्यानों में नहीं मिलता।गुरुतत्त्व वस्तुतः वैखरी से परा पर्यंत, विशेष सन्दर्भ में, सगुण से निर्गुण तक, समस्त चिद्भूमियों में अनुस्यूत; अनुग्रह भाव से निष्पन्न एक ऐसा तत्त्व है जिसे सनातन जीवित-शास्त्र कहा जा सकता है। निश्चित रूप से भारतीय दर्शन में वैदिक एवं आगमिक मूल की भाषा में निबद्ध शास्त्रगत परम्पराओं की निरंतरता एवं चेतन-शास्त्र के रूप में गुरुतत्त्व की नित्यता ने दार्शनिक-चिंतन एवं आध्यात्मिक-अनुभूति के द्वार मानवमात्र के लिए खुले रखे हैं, और सम्भवतः इसीकारण इस देश को विश्वगुरु होने का गौरव प्राप्त है।

<u>सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ</u> :-

१. पण्डित राममूर्ति त्रिपाठी,'भूमिका',***संत-सद्गुरु और उपनिषद्***, महेशदत्त शुक्ल द्वारा संकलित एवं व्याख्यायित,सनातन धर्म प्रबोधिनी कुटीर, वाराणसी द्वारा प्रकाशित,१९९७, पृष्ठ-३.

२. "इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे गुरु इस संसार में कम मिलते हैं, पर ऐसा भी नहीं है कि जगत् उनसे बिल्कुल शून्य हो। जिस क्षण यह संसार ऐसे गुरुओं से रहित हो जाएगा, उसी क्षण इसका अंत हो जाएगा---।" (***विवेकानन्द साहित्य:जन्मशती संस्करण***, अद्वैत आश्रम, मायावती, अल्मोड़ा:१९६३; नवम् खण्ड, पृष्ठ-२९).

३. "सद्गुरु की कृपा की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ होने पर भी अवश्यम्भावी है----याद रखने की बात है कि साधारणतया एक उपयुक्त आधार का अवलम्बन करके गुरु रूपी श्री भगवान जीव के सामने अपनी अनुग्रह शक्ति को प्रकाशित करते हैं । इस शक्तिप्रकाश की धारा अखण्ड

है।"(***भारतीय संस्कृति और साधना***, द्वितीय खण्ड, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, तृतीय संस्करण-१९९६, पृष्ठ-१९)

४. म.म.गोपीनाथ कविराज का सम्बन्ध में यह यथार्थ प्रतीत होता है कि उनका सम्पूर्ण शास्त्रीय विवेचन एवं गहन अनुसन्धान क्रम में उन्हें मात्र आगमिक परम्परा या तांत्रिक निकाय का पोषक मानलेना त्रुटिपूर्ण होगा; किंतु साधना क्रम में उनकी आगमिक प्रवृत्ति निर्विवाद कही जा सकती है।

५. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***, नवम् खण्ड,पृष्ठ-२८.

६. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***, नवम् खण्ड, पृष्ठ-३१.

७. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***,दशम् खण्ड, पृष्ठ-४००.

८. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***,नवम् खण्ड,पृष्ठ-२९.

९. ***भारतीय संस्कृति और साधना***, प्रथम खण्ड,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, तृतीय संस्करण: १९९६;पृष्ठ-२४१.

१०. ***भारतीय संस्कृति और साधना***,द्वितीय खण्ड,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, तृतीय संस्करण-१९९६,पृष्ठ-३१

११. "Freedom is always at the beginning and not at the end."(***The First and Last Freedom***, Krishnamurti Foundation of India, पृष्ठ-११८).

१२. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन', ***कठोपनिषद्***-१.२.२२.

१३. ***भारतीय संस्कृति और साधना***,द्वितीय खण्ड, पृष्ठ-१९.

१४. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***,नवम् खण्ड, पृष्ठ-२२-२३.

१५. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***,प्रथम खण्ड, पृष्ठ-१३१-१३२.

१६. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***,नवम् खण्ड, पृष्ठ-२३.

१७. अमेरिका का हार्वर्ड विश्वविद्यालय की स्नातक दार्शनिक सभा में २५ मार्च,१८९६ को विवेकानन्द द्वारा वेदान्त दर्शन पर प्रदत्त व्याख्यान का अनुक्रम में हुए प्रश्नोत्तर में इस विषय पर विवेचन किया गया(***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***,दशम् खण्ड, पृष्ठ-३९८)।

१८. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***, दशम् खण्ड, पृष्ठ-३९८.

१९. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***, नवम् खण्ड, पृष्ठ-३५-३६.

२०. ***योगशिखोपनिषद्***-२/४.

२१. इस सन्दर्भ में ***योगवाशिष्ठ*** का स्पष्ट अभिमत है, "शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः"(निर्वाण प्रकरण,१/१२८/१६३)।

२२. ***संत-सद्गुरु और उपनिषद्***, पृष्ठ-५६ में उद्धृत एवं व्याख्यायित।

२३. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***, नवम् खण्ड, पृष्ठ -२७.

२४. ***विवेकानन्द साहित्य: जन्मशती संस्करण***, नवम् खण्ड, पृष्ठ-२७.

२५. ***भारतीय धर्म साधना***, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी:२००१,पृष्ठ-३२.

२६. ***भारतीय संस्कृति और साधना***,द्वितीय खण्ड, पृष्ठ-९३.

२७. ***भारतीय संस्कृति और साधना***, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ-९५.

२८. कविराज,***तांत्रिक साधना और सिद्धांत***,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्,द्वितीय संस्करण-१९९४,पृष्ठ-३१.

२९. कविराज,***अंतर्यात्रा***, भारतीय विद्या प्रकाशन,दिल्ली,१९९१, पृष्ठ-२५-२६.

३०. कविराज,***साधुदर्शन व सत्प्रसंग***, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी, पृष्ठ-११६.

३१. द्विवेदी,रामचन्द्र,***काश्मीर की शैव परम्परा***, (हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला-९)नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,१९९०,पृष्ठ-५०.

३२. (अ)"भुक्ति मुक्ति प्रसिद्ध्यर्थं नीयतेऽसद्गुरुं प्रति।" (***मालिनी विजयोत्तर तंत्र***)

(ब) "शक्तिपातात् सद्गुरुविषया पिपासा भवति। असद्गुरुविषयायांतु तिरोभाव एवं।

असद्गुरुतस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव।" (***तंत्रसार***,पृष्ठ १२२)

३३. "गुरुरुपायः", २/६

३४. ***तंत्रालोक***-१३/१६ २

३५. "यस्माद्दीक्षा मंत्र शास्त्रं तत्त्वज्ञानं स वै गुरुः।"(***तंत्रालोक***, १५/५९१)

३६. ***तंत्रालोक***, १/१०६ पर *विवेक* टीका

३७. "दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पशुभावना।

दानक्षपण संयुक्ता दीक्षा तस्माद्दि कीर्तिता॥" (***तंत्रालोक***,१/४३ पर *विवेक टीका*)

३८. ***तांत्रिक साधना और सिद्धांत***,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ,१९९४, पृष्ठ ५४

३९. ***तदेव***, पृष्ठ ५३.

४०. कविराज,म.म.गोपीनाथ,***शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी***, विश्वविद्यालय प्रकाशन,वाराणसी,१९९०,पृष्ठ ९६.

४१. ***तदेव***, पृष्ठ ९६-९७.

४२. "ज्ञानानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः।

द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने॥

तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ।

स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतारणात्मकम्॥

संकोचि यत्क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम्।

तदज्ञानं न बुद्ध्यंशेऽध्यवसायाद्यभावतः॥"(***तंत्रालोक***,१/३६-३८)

४३. द्विवेदी,रामचन्द्र,***काश्मीर की शैव परम्परा***,पृष्ठ-४१

४४. "दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।

जनयेत् यः समावेशं शाम्भवं स हि दीक्षिकः॥"

(कविराज कृत ***तांत्रिक साधना और सिद्धांत***,पृष्ठ ५६ में उद्धृत)

४५."मातृकाचक्र सम्बोधः॥" (***शिवसूत्र*** २/७)

४६. "चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः"॥१॥,

"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति"॥२॥

"तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः"॥८॥ (क्षेमराज कृत ***प्रत्यभिज्ञा हृदयम्***)

४७.कविराज,गोपीनाथ, ***तांत्रिक वांग्मय में शाक्तदृष्टि***, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ,१९९४, पृष्ठ ३५८ में उद्धृत।

४८. "सूफी साधना और शैवमत", ***नवोन्मेष: म.म.गोपीनाथ कविराज स्मृति ग्रंथ***, वाराणसी, १९८७, पृष्ठ ४५.

४९. कविराज,***अखण्ड महायोग***, पृष्ठ-४.

५०. कविराज, ***गुरुदर्शन साक्षात्सम्बोधि***, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९९१, पृष्ठ-४७-४८.

५१. "अमृतवाणी", कविराजकृत ***गुरुदर्शन साक्षात्सम्बोधि*** में सम्मिलित, पृ.१.

५२. "अमृतवाणी", ***गुरुदर्शन सासम्बोधि***, पृ.२.

उपाचार्य/प्रवाचक,
स्नातकोत्तर दर्शन विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर-४८२००१
ps_11@msn.com